

"धर्मशास्त्र और वर्तमान"

प्रो. भगवती सुदेश

भारत की धर्मशास्त्रीय परम्परा का आविर्भाव मानवमात्र को केन्द्रित कर हुआ है। इस परम्परा में जिस उत्कृष्टता व महनीयता का दिग्दर्शन होता है उसे आचार्य मनु ने स्वयं अभिव्यक्त किया है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् पृथिवी के सभी मानवों को यदि चरित्र की शिक्षा ग्रहण करनी है तो वे भारत देश में जन्म लेने वाले ऋषि-मुनियों व धर्माचार्यों से प्राप्त करें। भारत का कण-कण धर्म की भावना से ओत-प्रोत है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परं वदन्ति।' भारतीय धर्म मजहब या रिलीजन नहीं है, यह अतिशय महत्वपूर्ण एवं रहस्यमय तत्व है। इसीलिये कहा गया है - 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।'

भारतीय धर्म भाव की पवित्रता से ही जीवनयात्रा का समर्थक नहीं है, अपितु भाव और आचार एवं ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सामञ्जस्य को लेकर चला है। यदि क्रिया के द्वारा सदाचार की प्रधानता धर्म का सार नहीं रहता तो 'स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' का उद्धोष मनु के द्वारा न होता, न महाभारत ही 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का जयघोष करता। भारतीय धर्म मानव को सत्य, शिव और सुन्दर भावों को जगाकर शुभ मार्ग से चलने को प्रेरित करता है। सम्पूर्ण लोक के हित के लिए सकल शास्त्रों के सार को संगृहीत करते हुए वेद की तरह प्रामाणिक मनु, गौतम आदि द्वारा प्रणीत स्मृतिशास्त्र ही धर्मशास्त्र है। जैसा कि मनु ने कहा है-

श्रुतिस्तुवेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः।

वैदिकधर्म दो प्रकार का कहा गया है - प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। यज्ञ, तप, दान आदि धर्म प्रवृत्तिपरक हैं। भगवद्भक्ति, ब्रह्मविचार, आत्मविचार आदि धर्म निवृत्तिपरक हैं। प्रवृत्त्यात्मक धर्म का फल लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष रूप अभ्युदय होता है। जो धर्म निवृत्त्यात्मक है उसका फल आवागमन से निवृत्तिरूप निःश्रेयस माना जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य मनु ने प्रवृत्त्यात्मक धृति, क्षमा, दम, शम, सत्य आदि को साधारण धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है।

वस्तुतः, ये साधारण धर्म तो निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करने वालों का भी कल्याण करते हैं। क्योंकि, मनु के अनुसार जब प्रवृत्ति का पर्यवसान निवृत्ति में होता है तभी वह प्रवृत्ति सार्थक कही जाती है -

"प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"

स्मृतियों में धर्म के कर्तव्य, पालन, धारण, संस्कार आदि अनेक सुप्रसिद्ध अर्थ बतलाये गये हैं। इन सभी का प्रतिपादक शास्त्र ही धर्मशास्त्र कहलाता है- "धारणाद् धर्मः"।

धर्मशास्त्र छह प्रकार के प्रवृत्त धर्मों की चर्चा करता है - वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और सामान्यधर्म। इन सभी धर्मों से देह का, जगत् का तथा आत्मा का कल्याण होता है। देह, जगत् का आत्मा -ये तीनों इन्हीं छह धर्मों पर आधारित हैं। आचार्यों ने धर्म के तीन भेद किये हैं - सामान्य धर्म, विशेष धर्म और आपद्धर्म। जिन गुणों का आचरण करते हुए समाज और मानव का उत्कर्ष तथा अभ्युदय होता है उसे सामान्य धर्म कहते हैं। मनु ने सामान्य धर्म के माध्यम से धर्म के धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पावनता, शुद्धि), इन्द्रिय-संयम, परोपकारिणी बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना - ये धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। वर्णाश्रम की व्यवस्था का अनुसरण करते हुए चारों वर्णों और चारों

आश्रमों के लिये विहित धर्म ही विशेष धर्म कहा जाता है। देश, काल और पात्र का विचार करके सद्भावना के अवलम्बन से शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत जिस धर्म का पालन किया जाये उसे आपद्धर्म कहा गया है।

धर्मशास्त्रों में आचार्यों ने विधि और निषेध दोनों का निर्देश करते हुए व्यवस्था दी है कि दोनों की उपेक्षा अथवा अवज्ञा कभी भी हितकर नहीं हो सकती है। वस्तुतः, मानवता मर्यादा का ही दूसरा नाम है। मर्यादा में दो ही पर्व होते हैं - विधि या निषेध। 'यह करो' या 'ऐसा करो'- इस विधि का आशय है कि ऐसा करना तुम्हारे इष्ट का साधन है। वैसे ही 'ऐसा मत करो' - इस निषेध का आशय है कि ऐसा करने से तुम्हारा अनिष्ट ही सिद्ध होगा। जो मनुष्य विधि-सम्मत आचरण नहीं करता है और निन्दित आचरण की ओर प्रवृत्त होता है, वह मर्यादा को भंग करने के कारण पतित होता है। इसी पतन को याज्ञवल्क्य ने मनुष्य का विनाश माना है -

विहितस्यानुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥

भारतीय धर्मशास्त्र से सम्बन्धित साहित्य का विस्तार बहुत अधिक है। धर्म के सभी स्वरूपों का निरूपण विस्तार पूर्वक धर्मशास्त्रों में किया गया है। धर्मशास्त्रकारों को यह पूर्वानुमान था कि धर्मशास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए भविष्य में धर्म का प्रतिपादन कठिन हो जायेगा, अतः उन्होंने विशालकाय विषय को संक्षेप में कतिपय मुख्य विषयों में ही प्रतिपादित किया। इसके लिये उन्होंने सम्पूर्ण धर्मसमष्टि को चार प्रकार से निरूपित किया। जैसे - तप, ज्ञान, यज्ञ और दान। इसीलिये धर्म को चतुष्पाद भी कहा जाता है। सत्ययुग में धर्म के चारों पादों का पालन सुष्ठु रूप से किया जाता था। त्रेता में तप के ह्रास की ओर जाने से तीन पाद ही बचे। द्वापर में ज्ञान में भी ह्रास दृष्टिगोचर हुआ, अतः वहाँ दो पाद ही शेष रहे। वर्तमान कलियुग में यज्ञ का भी प्रायः ह्रास होने से एक मात्र दानपाद ही शेष रहा गया है। आज का युग भौतिक युग है और मानव के जीवन में मुख्यतः अर्थ का अर्जन ही सर्वत्र लक्ष्य बन गया है। इसलिये अर्जित धन में से कुछ भाग का दान रूप में उपयोग किया जा

सकता है। किन्तु, दानमात्र से तो मनुष्य के जीवन में धर्म की प्रवृत्ति का सम्यक् आविर्भाव हो, यह संभव नहीं हैं। अतः मनुष्य की दिनचर्या में भी शास्त्रसम्मत यथायोग्य सुधार की आवश्यकता है। दिनचर्या व आचार-व्यवहार को लेकर धर्मशास्त्रों में पर्याप्त सामग्री मिलती है। व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-काल को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास व्यवस्था में सर्वप्रथम व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनकर पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ गुरुकुल में विद्याध्ययन करना पड़ता था। वहाँ उसे अनुशासन में रहते हुए आदर, सादा जीवन और उच्चविचार में जीवन व्यतीत करने की शिक्षा के साथ विभिन्न विधाओं में दक्ष बनाया जाता था।

गुरुकुलों में पढने वाले ब्रह्मचारियों के लिए परीक्षा प्रणाली आजकल की तरह नहीं थी। प्रतिदिन अध्यापक पूर्वदिन के पढाये हुए विषय के संबन्ध में पूछताछ कर सन्तुष्ट होने पर ही आगे का पाठ पढाते थे। प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत योग्यता का बहुत ध्यान रखा जाता था। मात्र पढाना ही उनका कार्य नहीं था बल्कि उनका यह धर्म था कि वे प्रत्येक शिष्य को सदाचारी बनावें, उसके आचरण की रक्षा करें, उसका चरित्र गठन करें, उसके भोजनवस्त्र का प्रबन्ध करें, तथा उसके प्रति अपने पुत्र के समान वात्सल्य भाव रखें। विद्यार्थी भी गुरु को पिता और देवता समझता था। एक अच्छी बात यह थी कि गुरुकुल में गुरु और शिष्य साथ-साथ रहते थे। शिष्य गुरु का विद्यार्थी ही नहीं होता था अपितु वह गुरु परिवार का एक सदस्य होता था। गुरुपरिवार में अमीर-गरीब साथ-साथ रहकर समान भाव से विद्याध्ययन करते थे। वहाँ का जीवन विशुद्धता से परिपूर्ण होता था।

गुरुकुल के हर विद्वान् को सदा शास्त्रार्थ के लिए तैयार रहना पड़ता था। कभी भी उनको कोई शास्त्र विचार के लिए चुनौती दे सकता था। आजकल विद्यार्थी तो अपनी विद्या या शास्त्रीय ज्ञान के साक्षी के रूप में विश्वविद्यालय का एक सर्टिफिकेट पेश करता है। ब्रह्मचर्याश्रम के विद्यालय आज के स्कूल या कॉलेज की तरह ईंट पत्थरों के बने निर्जीव भवन मात्र नहीं थे, जहाँ छात्र और शिक्षक पाँच या छः घंटों के लिए एक होते हैं। यह एक सजीव समुदाय के रूप में गुरु का कुल था, गुरु का

परिवार था। वह स्कूल का केवल छात्र नहीं बल्कि गुरुकुल का एक सदस्य होता था। विद्याध्ययन कर स्नातक बनने के बाद वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। जीवन का उपभोग करता हुआ अपने सम्बन्धियों, मित्रों और पड़ोसियों के प्रति अपना कर्तव्य निभाता था। वह परिश्रमी एवं सुयोग्य नागरिक बनकर सन्तानोत्पत्ति के द्वारा एक कुल का संस्थापक होता था। जीवन की एक निश्चित अवधि तक पहुँचते ही वह संसार के सुख एवं वासनाओं से ऊबकर वन की राह लेता था। मनु कहते हैं-

गृहस्थस्तु यदा पश्येत्, वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥

वन में भी वह आत्मनिग्रही, तपस्वी एवं निरपराधजीवन व्यतीत करता हुआ सांसारिक मायाजाल में छुटकारा पाने का प्रयत्न करता था। और जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करता था। इस तरह हम देखते हैं कि आर्यों ने आश्रम रूपी जीवन के चारों भागों में मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष) को प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया था।

धर्मशास्त्र की विषयवस्तु अतीव व्यापक है जिस का एक कारण यह भी है कि इसमें बहुविषयकता के साथ-साथ अन्तर्विषयकता का भी समावेश है। भूगोल, पर्यावरण, समाज, राष्ट्रियता, धर्म, नीति, कर्मकाण्ड, न्यायव्यवस्था, अपराध, दण्ड, अर्थ, काम, मोक्ष आदि अनेकों विषयों का न केवल सैद्धान्तिक अपितु व्यावहारिक प्रतिपादन विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है। हमारे महर्षियों ने इन्हीं सिद्धान्तों को आधार बना कर सभी के लिये सुखमय, शान्तिमय और निरामय जीवन की कल्पना प्रस्तुत की। धर्मशास्त्रकारों का सर्वश्रेष्ठ अवदान यह है कि मानवजीवन से संबन्धित कोई भी ऐसा विषय बचा नहीं है, यहाँ उनकी दृष्टि न गई हो। स्मृतियों की बात करें तो उनमें राजा और प्रजा का संबन्ध, माता-पिता, पुत्र व पुत्री, स्त्री व पुरुष, जड हो या चेतन, कर्तव्य और अकर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, पाप व पुण्य आदि के विषय में चर्चा करते हुए समाज के प्रत्येक अंग से संबन्धित लोगों के स्वभाव, उनकी अपेक्षाओं पर यथोचित ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि स्मृतियाँ सार्वजनीन, सार्वकालिक, तथा सर्वजनसुगम हैं।

यह सत्य है कि श्रुति और स्मृतियाँ ही धर्म का आदेश करती हैं और धर्म के निर्धारण में वे ही प्रमाण हैं। तथापि मनु धर्म के निर्धारण में शिष्टजनों के आचरण तथा आत्मसन्तुष्टि को भी प्रमाण मानते हैं। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि यदि विकासशील जीवन का उद्देश्य हो तो उन ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता है जिनसे जीवन का मार्गदर्शन मिल सके। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के वैदिक उद्धोष का लक्ष्य यदि हमें पूरा करना है तो स्मृतियों में जिन धर्म तत्त्वों तथा नैतिक मूल्यों की विवेचना की गई है उनका परिपालन तथा मन, वचन और कर्म से उन्हें आत्मसात् करना होगा। क्योंकि, आज के कठिन काल में इन धर्म तत्त्वों व नैतिक मूल्यों की बहुत प्रासंगिकता है। ज्ञात हो कि जब मानव नैतिक कर्तव्यों का पालन करते हैं तो समाज में परस्पर अनुराग, सदाशयता और सद्भावना की वृद्धि होती है। बड़े से बड़े समाज अथवा राष्ट्र जब नैतिकमूल्यों के पतन का सामना करते हैं तो धन-धान्यादि की समृद्धि के बावजूद मनुष्यों में स्वार्थ, कपट, कलह आदि दुर्वृत्तियों का उदय होता है। परिणामतः, वह समाज और राष्ट्र पतन को प्राप्त होने लगता है।

आज यदि समाज में सदाचरण का ह्रास या सांस्कृतिक क्षरण दृग्गोचर हो रहा है तो उसमें धर्मशास्त्रोक्त सदाचार एवं चरित्र की अवहेलना ही सर्वप्रमुख कारण है। धर्मशास्त्रीय शिक्षा का यही उपदेश है कि मनुष्य अपने उत्कर्ष को प्राप्त करें, वे अभ्युदय विहीन न हों। मानवजाति के पतन में प्रमुख हेतु आश्रम व्यवस्था का पतन ही लक्षित होता है। हमें गर्व होना चाहिए कि भारतीय संस्कृति मानवधर्म की साकार मूर्ति है। वही हमारे संरक्षण व संवर्धन की क्षमता रखती है। मनु कहते हैं कि जो व्यक्ति वेदमूलक स्मृतिशास्त्र का वेद के अनुकूल तर्क से अनुसन्धान करता है, वही धर्मज्ञ हो सकता है न कि कोई अन्य। मनु वचन में शिष्ट से अभिप्राय ऐसे ही धर्मज्ञ से है। अतः, आज जब समाज में स्वच्छन्दता बढ़ रही है तो धर्मशास्त्र के इस उपदेश की वर्तमान में प्रासंगिकता महसूस होती है कि मनुष्य अपने शिष्ट जनों के आचरण का अनुकरण करें और उसका अनुपालन करें।

श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में मानव के चरित्र के निर्माण में कारणीभूत समस्त मूलभूत आदर्शों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं -

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

धर्मशास्त्रकार परम्परागत सदाचार को ही धर्म का सर्वश्रेष्ठ लक्षण मानते हैं। विदित ही है कि कालानुरोध से परिस्थिति में परिवर्तन होता रहता है। यहाँ तक कि देशभेद से भी संस्कृति में भिन्नता होती है, आज के वैश्वीकरण के युग में भिन्न-भिन्न जाति व सम्प्रदाय आदि के अनुयायियों के साथ संसर्ग होने से सांस्कृतिक घाल-मेल होना अवश्यंभावी है। यदि मनुष्य ऐसे में अपने कुल के अनुरूप सदाचार को छोड़ दे तो उसकी जीवन पद्धति अवश्य ही दोषपूर्ण हो जायेगी। धर्मशास्त्र आचार को परमधर्म के रूप में प्रतिष्ठापित करता है। सदाचार से अभिप्राय है कि जिन आचारों व विचारों से मनुष्य में दैवी गुणों का उदय हो और मनुष्य का अभ्युदय हो। अनुशासन भी प्रमुख सदाचरण है। सुविदित है अनुशासित एवं सदाचार परायण व्यक्ति का आदर जिस समाज में होता है, उसी समाज की उन्नति जगत में दिखाई पड़ती है।

भारतीय संस्कृति का गौरव यही है कि वह आचार व विचार को सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। इसीलिये भारतवर्ष की सांस्कृतिक चेतना मानव के अन्तःकरण मात्र को ही पवित्र नहीं करती, अपितु लौकिक उन्नति प्रदान करती हुई मोक्ष की ओर ले जाती है। वर्तमान में भारत में ही नहीं अपितु समग्र विश्व में मानवोचित मूल्यों से दूर होती जा रही मानवता को नई दिशा की अपेक्षा है जो जीवन के ध्येय को समुचित रूप से प्रकाशित कर मनुष्य का कल्याण करे। उपनिषदों से प्राप्त ज्ञान 'असतो मा सद् गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'- हमें अज्ञानता से ज्ञान की ओर अशिष्टता से शिष्टता की ओर, पाप से पुण्य की ओर ले जाने में समर्थ है।

भारतीय धर्मशास्त्र मानता है कि मूल्यों का विकास अध्ययन-अध्यापन या प्रचार-प्रसार आदि से सम्भव नहीं है। वह इस विचार को दृढता से उपस्थापित करता है कि मूल्यों का पल्लवन व पोषण एक जटिल प्रक्रिया पर आधारित है। यह प्रक्रिया मूल्यों का आधान करने के साथ-साथ व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को

सन्तुलित तथा परिष्कृत करती है। धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट संस्कारों के आजीवन अनुष्ठान किये जाने से मानव में मानवोचित गुणों व मूल्यों का विकास होता है। आचार की महिमा को शास्त्रों में पग-पग पर निरूपित किया गया है- 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'। वर्तमान में धर्मशास्त्र की सदाचार सम्बन्धी यह शिक्षा अतीव प्रासंगिक है। हमें अतीव निष्ठा से सदाचारयुक्त जीवन जीने की कला सीखने हेतु धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए।

धर्मशास्त्र मनुष्य को व्यवस्थित रीति से अपना जीवन जीने हेतु अभिप्रेरित करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, नामक चारों पुरुषार्थों से युक्त जीवन से ही श्रेय की प्राप्ति सम्भव है। उसी उद्देश्य से उसका जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास संज्ञक चार सोपानों में बाँटा गया है। आज मनुष्य जीने की कला ही भूलता जा रहा है। किस सोपान पर कौन सा कदम रखना है या कौनसा कार्य करना है, इसका बोध ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि समग्र जीवन का एक भाग यदि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्जन में लगाया जाये तो मनुष्य के व्यक्तित्व में निश्चित ही उत्कृष्टता आयेगी। गृहस्थ होते हुए मनुष्य अतिथि सत्कार, पञ्चमहायज्ञ, दान, श्राद्ध आदि कर्तव्यों का पालन करें तथा वानप्रस्थ में लौकिक एषणाओं को क्रमशः कम करते हुए अन्ततः संन्यासात्मक सोपान में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को चरितार्थ करें। धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित आश्रम व्यवस्था आज की आपाधापी भरे जीवन में उपज रहीं विसंगतियों का निराकरण करने में उपादेय हो सकती है।

धर्मशास्त्र संस्कारों की दो कोटियाँ प्रतिपादित करते हैं - ब्रह्मसंस्कार और दैवसंस्कार। मानव के जीवन में इन संस्कारों की सार्थकता और सामयिक प्रासंगिकता पर अनुशीलन किया जाना चाहिए। ऊर्ध्व और अधः भेद से मनुष्य की दो प्रकार की गति दिखलाई पड़ती है। वर्तमानकालीन विश्व चारों ओर से तनाव, कुण्ठा, युद्ध आदि की विभीषका से ग्रस्त है। मानवता के लिये यह काल अतीव कठिन दिखाई देता है। भारतवर्ष ही सम्पूर्ण विश्व को सुख एवं शान्ति का मार्ग दिखाने में

समर्थ है। वस्तुतः, सदाचार से युक्त मानव के निर्माण की आवश्यकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अपेक्षा है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित मानव के उत्थान सम्बन्धी तथा समाज में समन्वय के स्थापन से सम्बन्धी तत्त्वों का अनुशीलन किया जाये और वैश्विक समाज के सामने उन्हें उपस्थापित किया जाये। जिस वैश्विक-नागरिकता की आज सर्वत्र चर्चा होती है उसे एक समुचित आधार देने में हमारे शास्त्रों के उदात्त विचार- 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय' आदि अतीव उपकारक सिद्ध होंगे। हम जानते हैं कि 'धर्म' शब्द की हमारी अवधारणा अन्य मतों के अनुयायियों की अवधारण से नितान्त भिन्न है। पाश्चात्य जगत की धर्म सम्बन्धी अवधारणा ही विश्व में व्याप्त आंतकवादी जैसी विकट एवं ज्वलन्त समस्याओं की जनक है। अतः 'धर्म' तत्त्व की हमारी अवधारणा को यदि उपयुक्त रीति से विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जाये तो विश्व को एक सार्थक दिशा मिल सकती है। आवश्यकता है कि सर्वप्रथम हमारी अपनी शैक्षिक पाठ्यचर्या में इन तत्त्वों का समावेश किया जाये।

धर्मशास्त्र चार पुरुषार्थों की चर्चा करता है। 'अर्थ' की दृष्टि से आचार्यों ने अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर जीवन यापन के लिये परिवार के भरण पोषण के लिये नित्य-नैमित्तिकादि कर्मों के अनुष्ठान के लिये, अतिथिसत्कार और दानादि सत्कर्मों का सम्पादन करने के लिये धन की आवश्यकता होती है। धर्मशास्त्र का उपदेश है कि केवल भोग की दृष्टि से धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। आचार्य मनु ने तो ब्राह्मण को तप एव त्यागवृत्ति के निर्वाह का निर्देश दिया है। वे कहते हैं कि उसे अश्वस्तनिक (एक दिन की भोजन सामग्री), त्र्यैहिक (तीन दिन की भोजन सामग्री), कुम्भीधान्य (एक वर्ष की भोजन सामग्री) या ज्यादा से ज्यादा कुसूलधान्य (तीन वर्ष की भोजन सामग्री) होना चाहिए। धर्मानुप्राणित ये सीमारेखायें समाज के कल्याण एवं सर्वजनहित की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उसमें वर्णित कई विधान अतीव प्रसंगिक हैं। उनमें से कई तो आज भी विद्यमान हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा है –

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् श्रद्धा से युक्त हो कर उचित देश व उचित काल में उचित उपाय से अर्जित द्रव्य जब किसी उचित पात्र को प्रदान किया जाता है तो यह भी धर्म की श्रेणी में आता है। इससे सुन्दर धर्मलक्षण और क्या हो सकता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्मृतियों में जिस अर्थ में 'धर्म' शब्द का निरूपण हुआ है, उस अर्थ में हमारे वर्तमान भारतीय संविधान में दिखाई नहीं देता है। परन्तु याज्ञवल्क्य के उक्त परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो आज भी शासकों के द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों में शिक्षा हो या कला, चिकित्सा हो या विज्ञान और चलचित्र आदि - अनेक क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ पात्रों को दानस्वरूप पुरस्कार आदि प्रदान कर शास्त्र सम्मत धर्मलक्षणों की अभिव्यक्ति की जाती है। याज्ञवल्क्य ने स्वाध्याय को भी धर्म में ही गिना है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि यदि विकासशील जीवन का उद्देश्य हो तो उन ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता है जिन से जीवन को मार्गदर्शन मिल सके। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के वैदिक उद्घोष का लक्ष्य यदि हमें पूरा करना है तो स्मृतियों में जिन धर्मतत्त्वों तथा नैतिक मूल्यों की विवेचना की गई है, उनका परिपालन व मन, वचन और कर्म से उन्हें आत्मसात करना होगा। क्योंकि, आज के कठिन काल में इन धर्मतत्त्वों व नैतिक मूल्यों की बहुत प्रासंगिकता है। ज्ञात हो कि जब मानव नैतिक कर्तव्यों का पालन करते हैं तो समाज में परस्पर अनुराग, सदाशयता और सद्भावना की वृद्धि होती है। बड़े से बड़े समाज अथवा राष्ट्र जब नैतिक मूल्यों के पतन का सामना करते हैं तो धन-धान्यादि की समृद्धि के बावजूद मनुष्यों में कलह, कपट अदि दुर्वृत्तियों का उदय होता है। परिणामतः, वह समाज और राष्ट्र पतन को प्राप्त होने लगता है। आज यदि समाज में सदाचारण का हास और सांस्कृतिक क्षरण दृग्गोचर हो रहा है तो उस में बड़ा कारण धर्मशास्त्रोक्त सदाचार एवं चरित्र की अवहेलना ही सर्वप्रमुख कारण है। धर्मशास्त्रीय शिक्षा का यही उपदेश है कि मनुष्य अपने उत्कर्ष को प्राप्त करें, वे अभ्युदयविहीन न हों। मानवजाति के पतन में प्रमुख हेतु आश्रम-व्यवस्था का पतन ही लक्षित होता है। हमें गर्व होना चाहिये कि भारतीय संस्कृति मानवधर्म की साकार मूर्ति है। वही हमारे संरक्षण व संवर्धन की क्षमता रखती है।

भारतीय संस्कार गर्भाधान से ले कर अन्त्येष्टि पर्यन्त मानव को शुद्ध एवं पवित्र करते हैं। इन संस्कारों में कतिपय संस्कार शरीर को पवित्र एवं संस्कृत करते हैं तथा कतिपय संस्कार आत्मा की शुद्धि करते हैं। जैसे शरीर स्नान आदि से सुसंस्कृत होता है, और आत्मा ध्यान, जप, योग आदि से संस्कृत होता है। ऐसे अति महत्त्वपूर्ण संस्कारों की विधि व अनुष्ठान प्रक्रिया में धर्मशास्त्र ही दिशा-निर्देश प्रदान कर हमें अनुगृहीत करते हैं।

धर्मशास्त्रों में जिन संस्कारों का विधान किया गया है उनसे संस्कृत लोग ही एक सुसंस्कृत समाज का निर्माण करते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि समाज और धर्मशास्त्र दोनों में परस्पर प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। हम देखते हैं कि समाज का जितना सम्बन्ध धर्मशास्त्र के साथ है उतना किसी दूसरे शास्त्रों से नहीं है। अतः बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र द्वारा जिन विधाओं व जिन परम्पराओं का निर्देश किया गया है उनका आचरण करने से समाज संस्कारवान् बनेगा, उनकी उपेक्षा से समाज शृंखलाहीन हो जायेगा। अतः संस्कृति के संरक्षण, परिष्करण व उन्नयन में धर्मशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

वर्तमान समाज की समस्याओं में से अधिकांश के आविर्भाव का मूलभूत कारण शास्त्रीय परम्पराओं से हमारी विमुखता ही है। अतः इनका समाधान भी उन्हीं शास्त्रीय परम्पराओं में ही प्राप्त होगा। शास्त्र मानव जीवन के अभ्युदय हेतु ही प्रवृत्त हुए हैं। वे मानव जीवन को अनुशासित कर उसे उपयुक्त दिशा में अग्रसर करते हैं। वेदों में मानव जीवन के विकास हेतु सर्वविध प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन होता है। उन्हीं को व्याख्यायित करते हुए मनु आदि आचार्यों ने विश्व के सभी मानवों के कल्याण की दृष्टि से वेदानुमोदित विधानों का प्रणयन किया है। इसी शृंखला में हमें स्मृतिग्रन्थों में सामान्य धर्म और विशेष धर्म का विवरण उपलब्ध होता है।

धर्मशास्त्र में प्रतिपादित राजधर्म के विषय का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि धर्म और राजनीति में एकात्मता का भाव है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में 'राजनीति' पद का प्रयोग न हो कर 'राजधर्म' पद का प्रयोग किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि राजनीति तो शासन की एक व्यवस्था है। उस व्यवस्था को शक्ति तो धर्म से ही प्राप्त होती है, जिससे राजनीति में स्थिरता आती है। वस्तुतः धर्म

से अनुप्राणित राजनीति की ही प्रशंसा प्रजा द्वारा की जाती है। तथा धर्मानुस्यूत होने के कारण ही राजा को 'देव' पद से प्रतिष्ठित किया गया है। इसका यह निहितार्थ है कि जैसे देवता अपने-अपने धर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं, वैसे ही राजा भी धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट नियमों व व्यवस्थाओं का अतिक्रमण न करें। वस्तुतः, स्मृतिशास्त्र में उपदिष्ट न्यायव्यवस्था व दण्डव्यवस्था कतिपय अंशों में आज भी हमारे वर्तमान संविधान में मौजूद है। उसमें युगानुरोध से अभीष्ट परिवर्तन अवश्य किये गये हैं।

उपसंहार

भारतभूमि प्राचीनकाल से ही अपने ज्ञान, धर्म और मूल्य आदि के कारण संपूर्ण विश्व में गरिमापूर्ण स्थान की महनीय भूमिका का सफल निर्वहण करते हुए ही संसार को नैतिक आदर्शों और जीवनमूल्यों का पाठ पढ़ाती रही है। यदि हम कहें कि धर्म और धर्मशास्त्र भारत की आत्मा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। धर्म के अभाव में न केवल हमारा व हमारे राष्ट्र का प्रत्युत समूची मानवजाति का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जायेगा, जिसका दिग्दर्शन आज विश्व के कई भूभागों में हो रहा है। धर्म और नैतिक शिक्षा के अभाव में बालकों के संस्कारशून्य होने में कोई संशय नहीं है। आज हम अनुभव कर रहे हैं कि संस्कारों से विहीन युवा पीढ़ी पाश्चात्य जगत की अपसंस्कृति में बुरी तरह जकड़ती जा रही है। धर्मशास्त्र का तो प्रधान उद्देश्य यही है कि मनुष्य धर्म के मर्म को समझे, सात्त्विक आचार, विचार और आहार की महिमा को जाने, पाप और पुण्य में, नीति और अनिती में विवेक रख सके। वह देवों, माता-पिता, अतिथि, गुरु आदि के प्रति अपने कर्तव्यों को जानकर उनका सम्यक् निर्वहण करे, तथा सदैव धर्मसम्मत कर्तव्य पथ पर अग्रसर हो सके।

सन्दर्भ -

1. धर्मशास्त्रस्येतिहासः, प्रो. जयकृष्णमिश्रः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 2010
2. आधुनिकहिन्दुविधिः, डॉ.योगेन्द्र कुमार तिवाडी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003
3. दत्तकमीमांसा, नन्दपण्डित
4. कौटिल्य-अर्थशास्त्रम्, व्या.डॉ.कमलनयन शर्मा, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, 2007
5. दायभागः,
6. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, गङ्गासागरराय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1999
7. संस्कारविमर्शः, प्रो.भगवती सुदेश, राष्ट्रिय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर, 2008
8. व्यवहाराध्यायः, डॉ.कमलनयन शर्मा, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, 2009
9. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ.पाण्डुरङ्ग वामन काणे, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, 1992
10. मनुस्मृतिः,
11. व्यवहारमयूखः, पी.वी.काणे, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नईदिल्ली, 2009